Drishtikon

Certificate of Publication

is awarded to

आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

for the paper titled

श्रीमद्भगवद्गीता में अपरिग्रह

Published in *Drishtikon* Journal Vol-11, Issue-06 Year 2019 ISSN: 0975-119X

International Refereed and Indexed Journal for Research Publication

With Impact Factor 5.1 UGC Care Listed

S.N. Sharma

Editor-in-Chief

editor@hindijournals.org

UGC
University Grants Commission

EDUINDEX

Drishtikon *(Bimonthly Hindi Journal)*

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

श्रीमद्भगवद्गीता में अपरिग्रह

मुनि पुलकित कुमार[1], प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी[2]

[1]शोध छात्र, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं
[2]निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जैन विश्वभारती संस्थान, (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं -341306 (राज.)

सार-संक्षेप

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व कुरुक्षेत्र के समरागंण में मोहासक्त अर्जुन को श्री कृष्ण द्वारा दिया गया उद्बोधन 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहलाता है। यह हिन्दू मान्यता का सबसे पवित्र और लोकप्रिय अमूल्य ग्रन्थ रत्न है।

गीता को उपनिषदों का सार रूप में देखा गया है। गीता के आचार दर्शन का केन्द्रिय तत्त्व आसक्ति मुक्त अवस्था-अनासक्ति रहा है। अतः राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने गीता को 'अनासक्ति योग'के रूप में व्याख्यायित किया है। भगवद्गीता में अपरिग्रह-परिग्रह शब्द का प्रयोग भले ही नगण्य रहा हो फिर भी 'अपरिग्रह' गीता का जीवन मन्त्र रहा है। इसीलिए भगवद् गीता में आशा (कामना और आसक्ति) रहित तथा अपरिग्रही (संग्रह रहित) संयमी योगी को एकान्त में निरन्तर आत्म साक्षात्कार का अभ्यास करने का निर्देश इस रूप में प्राप्त होता है- "एकाकी यत्चित्तात्मा नीराशीरपरिग्रहः।"[1]

कूटशब्दः अपरिग्रह, अनासक्ति योग, वित्तैषणा, निस्पृह, कामनारहित, आसुरी प्रवृत्ति।

प्रस्तावना

गीता में उल्लिखित **"त्यक्तसर्व परिग्रह"**[2] की भावना यह संदेश देती है कि 'सभी प्रकार के परिग्रह या आसक्ति का त्याग ही व्यक्ति, परिवार तथा सामाजिक जीवन को उर्ध्वगामी बनाती है और राष्ट्र के उत्थान का मार्ग भी प्रशस्त करती है। क्योंकि परिग्रह के अभाव में व्यक्ति कामना रहित हो जाता है, चित्त को वश में रखने वाला बन जाता है।'

Copyright ©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

लोभ नियंत्रण के लिए संतोष वृत्ति की प्रेरणा देते हुए कहा- 'जो सहज प्राप्त हो उसी में योगीजनों को संतुष्ट रहना चाहिए।' **"यदृच्छा लाभ संतुष्टो"**[3]

हिन्दुओ के प्रतिनिधि धर्मग्रन्थ मानेजाने वाले श्रीमद्भगवद्गीता में अपरिग्रही वृत्ति का अनेक तरह से समर्थन मिलता है। वहां आसुरी प्रकृति वाले लोगों की धन संग्रह तथा लोभ वृत्ति के संदर्भ में कहा- आसुरी प्रवृत्ति के लोग स्वार्थवश जमीन, जायदाद, व्यक्ति, परिस्थिति में आसक्ति के कारण किसी से भी दुश्मनी मोल ले लेते हैं। यह शत्रुता ही व्यक्ति से बढ़ते-बढ़ते परिवारों, समाजों और राष्ट्रों तक व्याप्त हो जाती है। विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त असुर लोग अपवित्र नरक में जाते हैं।'[4]

परिग्रही व्यक्ति की मानसिकता का विश्लेषण करते हुए कृष्ण कहते है-'परिग्रही व्यक्ति आसुरी प्रवृत्ति करता है। परिग्रही की स्थिति त्रिगुण की दृष्टि से तामसिक और कुछ अंशों में राजसिक होती है।'[5] "लोभः प्रवृत्तिरारम्भः" अर्थात्-'जब रजोगुण में वृद्धि हो जाती हैं तो अत्यधिक आसक्ति, अनियंत्रित इच्छा एवं लोभ-लालसा के लक्षण प्रकट होते है। रजोगुणी व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा तथा इन्द्रियों से कभी भी तृप्त नहीं होता। संतुष्टि को प्राप्त नहीं करता है।'[6] काम, क्रोध तथा लोभ को नरक का द्वार और आत्मा का नाश करने वाले मानकर 'त्रयं त्यजेत्"[7] कहा है। अर्थात् इनका परित्याग करना चाहिए।

साधना का प्रथम सोपान-'अनासक्ति' अथवा 'असंग' को विश्लेषित करते हुए गीताकार का स्पष्ट अभिमत इस रूप में देखने को मिलता है -'इन्द्रिय विषयों का बार-बार चितंन करने से पुरुष में आसक्ति की स्थिति का निर्माण होता है। आसक्ति से कामवासना जागृत होती है। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आसक्ति के प्रभाव से विवेक, स्मरण शक्ति और अंत में ज्ञानशक्ति भी नष्ट हो जाती है जिससे वह साधक साधना से गिर जाता है।'[8]

वैराग्य प्राप्ति में बाधक 'मोह' को त्यागने की प्रेरणा में कहा- 'जब तेरी बुद्धि इस मोह दलदल से तर जाएगी तब तूं सुनने योग्य बनकर वैराग्य को प्राप्त होगा।'[9] 'जो मोह से रहित हैं, आसक्ति दोष को जीतने वाले हंै तथा सदा अध्यात्मभाव में स्थित होकर भौतिक कामनाओं से निवृत्त होते है, वे ज्ञानी पुरुष ही 'अव्यय' पद-मोक्ष को प्राप्त होते हैं।'[10]

भौतिक पदार्थों से नित्य और सुखप्रद प्रतीत होने वाले सांसारिक भोगों को अनित्य, क्षणिक और दुःख मूलक समझकर उसमें मोहित न होना ही 'असम्मोह" है।[11]

Copyright©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

तीन प्रकार की एषणाओं में एक है- पुत्रैषणा। जिसका समाहार पारिवारिक आसक्ति के रूप में रहता है। इस आसक्ति के प्रभाव से ही मनुष्य के भीतर यह भाव जागता हैं कि- यह मेरी पत्नी, यह मेरा पुत्र, यह मेरा घर, यह मेरी दौलत आदि अनेक प्रकार के मोह जनित विचारधारा में वह बंध जाता है।

गीता में व्यक्ति को दारासक्ति, सुतासक्ति, देहासक्ति, धनासक्ति, मनासक्ति और इससे भी आगे कर्मफलासक्ति आदि सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त रहने की प्रेरणा दी गयी है। वहां माना गया है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थ के साथ व्यक्ति का विशेष मोह संबंध होने के कारण ही इनसे विशेष आसक्ति का भाव रहता है। अतः साधक को इन सब आसक्तियों से मुक्त रहना चाहिए। व्यक्ति "मुक्तसंग' हो।[12]

धर्मशास्त्रों मे 'वित्तैषणा' का संबंध अर्थप्रधान मनोवृत्ति के साथ जोड़ा गया है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से संग्रह का भाव व्यक्ति के मन में सदा बना रहता है। परिग्रह को बढ़ावा देने में यह निमित्त भी बनती है अतः गीता के सोलहवें अध्याय में इस अर्थप्रधान मनोवृत्ति को "आसुरी वृत्ति" से संम्बोधित किया है। "आसुरी वृत्ति" वाला व्यक्ति यह इच्छा करता रहता हैं कि मैंने आज यह धन प्राप्त कर लिया है, मैं यह मनोरथ को प्राप्त करूंगा, यह

धन मेरा है और यह धन मेरा होगा-

"इदमद्य मया लब्धमिमं.....।"[13]

इसी संदर्भ में आगे कहा है- सैकड़ों आशापाश में बंधा हुआ, "आशापाशतैबद्धा" काम-क्रोध परायण व्यक्ति विषय भोगों के लिए अन्याय से भी धनोपार्जन की चेष्टा करता है। चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, दम्भ, मारपीट, कूटनीति आदि उपायों द्वारा दूसरों के धन का हरण करने की चेष्टा करता है।[14]

धनासक्ति को वैर और विनाश का निमित्त माना गया है। आत्मा से दूर, विरक्ति से दूर रहने वाला इसमें लिप्त बना रहता है। इसी को गीता का भावानुवाद के रूप में प्रस्तुत करते हुये लिखा गया है- "जो लोग सदा धन-दौलत के विषय में ही सोचते हुये उसमें लिप्त रहना चाहते हैं, तथा निरन्तर लालसा करते रहते हैं। जिससे उनमें निराशा पैदा होती है, क्रोध पैदा होता है। उसके बाद भ्रान्ति पैदा होती है, उसके बाद धन की हानि और ज्ञान की हानि होती है। अंततः उसका विनाश हो जाता है।'[15]

Copyright ©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

श्रीमद्भगवद् गीता प्रायः समस्त वैदिक परम्पराओं का एक ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म आदि अनेक साधना भेदों को मान्यता दी गई है। कर्मयोग की देन गीता की अपनी निराली है। गीता का कर्मयोग बहुत व्यापक स्तर पर प्रचारित व प्रसारित इसलिए होता चला गया क्योंकि वह लोक रूचि के अनुकूल पड़ता है। कर्म प्रेरणा के प्रसंग में अर्जुन से श्री कृष्ण कहते हैं-

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेशु कदाचन्।।"[16]

अर्थात्- 'कर्म में ही तेरा अधिकार है अतः फल की आशा मत कर।" "तस्माद् सक्तः सततं कार्य कर्म समाचर"-[17] "रागरहित अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर। "जनक आदि ऋषियों ने भी तो कर्म करते हुए ही सिद्धि को प्राप्त किया है, अतः लोक संग्रह की दृष्टि से भी तुझे अनासक्त कर्म करना चाहिए।"[18] "विद्वान पुरूषों को सदा 'असक्त'-अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए।"[19]

कर्म करते हुए भी अनासक्ति का भाव रखने की साधना उत्कृष्ट कहलाती है तभी कहा गया है कि-'करणीय कर्म को जो आसक्ति छोड़कर करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है।"[20] हे पार्थ! तू आसक्ति और फल की कामना छोड़कर कर्म कर यही मेरा निश्चयपूर्वक अभिमत है।[21]

"कर्मफलों से आसक्ति-ममता का त्याग करने वाला ही वास्तव में त्यागी है।"[22]

भगवद्गीता के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि 'कर्म योग" उसका महामंत्र रहा है। परन्तु वह कर्म भी फल की आकांक्षा से रहित हो यह आवश्यक है। जो इस तरह के जीवन शैली को अपनाते है। ऐसे साधक को हम 'अफलाकांक्षी" कह सकते है। क्योंकि गीता में कहा भी है कि-'कृपणाः फलहेतवः।"[23] "फल की कामना के साथ कर्म करने वाला व्यक्ति कृपण या दीन कहलाता है।" व्यक्ति की दृष्टि कर्म पर होनी चाहिए न कि उसके फल पर। 'मनुष्य अपने कर्तव्यों का निष्काम भाव से सम्पादन करें।'

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार 'जब तक अनासक्ति की बात जीवन में नहीं उतरती तब तक अन्तमुखता का विकास नहीं होता, उसे पदार्थ अच्छे लगते हैं। उसके भीतर कामना और आसक्ति विद्यमान होने से व्यक्ति निष्काम कर्म की चर्चा करते हुये भी वह वाणी का

Copyright©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

विलास मात्र बनकर रह जाता है। गीता की अनासक्ति का सिद्धांत हमारे जीवन में तभी उतरना संभव है जब हम उसके प्रयोग जीवन में उतारे, साधना करे।'[24]

गीता के अनुसार निष्काम कर्म का अर्थ संसार की सभी क्रिया (कर्म) में ममता और आसक्ति का त्याग है। कर्म दो प्रकार के होते है (1) आसक्त कर्म और,

(2) अनासक्त कर्म। प्रायः मनुष्य आसक्ति के कारण ही कोई कर्म करता है। आसक्ति ही कर्म करने की प्रेरणा देती है। अतः कर्मयोगी को आसक्ति पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। तभी तो कहा गया है-"त्यक्ता कर्म फलासंगः"[25] "अफलप्रेत्सुना कर्म"[26] "न में कर्मफले स्पृहा"[27] आदि सूत्र कर्मफलाशा त्याग का उद्घोष करते हैं।

साधक योगी को "पद्मपत्रमिवाम्भसा"[28] के उदाहरण से प्रेरणा दी है कि- वह 'जलकमलवत्' बना रहें। अर्थात्-कर्म करता हुआ निर्लिप्त रहे, सम्पूर्ण कत्तव्यों को आसक्ति रहित 'अनासक्त' भावों से ही करें।[29] इस तरह भगवद्गीता के प्रायः सभी अध्यायों में अपरिग्रही वृत्ति को सम्पोषण देने वाले अनेक सूत्र उपलब्ध होते है। यहां अपरिग्रह का अर्थ मात्र भौतिक वस्तुओं के परिग्रह (आर्थिक पक्ष) का निषेध ही नहीं हैं अपितु सभी प्रकार की आतंरिक आसक्तियों से मुक्ति का दूसरा नाम "अपरिग्रह" स्वीकारा गया हैं।

स्वामी चिन्मयानंद के अनुसार परिग्रह की व्याख्या इस प्रकार है-'विषयासक्त पुरुष की प्रवृत्ति अधिकाधिक धन और योग्य वस्तुओं का संग्रह करने में होती है। उचित या अनुचित साधनों के द्वारा आवश्यकता से अधिक केवल भोग के लिए पदार्थ- वस्तुएं एकत्रित करना 'परिग्रह' कहलाता है। परिग्रह का त्यागी ही ब्रहम ज्ञान का अधिकारी है।[30]

गीता में बाह्य परिग्रह को "मिथ्या वस्तु" बताकर उसके त्याग की चर्चा करते हुए पांचवें अध्याय के श्लोक 21-22 की व्याख्या करते हुए स्वामी चिन्मयानंद लिखते हैं- "सभी मिथ्या वस्तुओं का त्याग करने पर ही परमार्थ सत्य स्वरूप पूर्ण परमात्मा को हम प्राप्त कर सकते हैं ।" हम भौतिक परिच्छिन्न वस्तुओं (परिग्रह) के पीछे न पडे। क्योंकि वैषयिक उपभोग सदा ही दुःख के कारण होते हैं।"[31]

"गतसंगस्य मुक्तस्य"[32] ज्ञानी पुरुष वह है, जो परिच्छिन्न जगत् की आसक्ति से पूर्णतया मुक्त है।" नित्यानित्य वस्तु के विवक को जानने वाला ही ज्ञानी होता है।

Copyright©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

'निस्पृहः सर्वकामेभ्यो''[33] गीता हमें सभी प्रकार की कामनाओं में निस्पृहता रखने की प्रेरणा देती है।'' किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छापूर्ति के प्रति हमारे मन में जो अत्यधिक लालसा या स्पृहा होती है, वही जीवन में हमारे कष्टों का कारण बनतीं है। ''संकल्प से उत्पन्न समस्त कामनाओं को विशेष रूप से परित्याग करने को गीता में आवश्यक गुण बताया गया हैं''[34]

''मद्भक्तः संगवर्जितः''[35] कृष्ण कहते हैं जो मेरा भक्त है वह संग (मोह) रहित होता है। उसी से ईश्वरप्राप्ति संभव है।''

अपरिग्रह की भावना द्योतक शब्द गीता में ''अनभिष्वंग''[36] नाम से उल्लिखित है वहां कहा गया हैं कि -पुत्र, भार्या और गृहादिक में स्नेह भाव रखने वाला ''अभिष्वंग'' है। उस प्रीति का अभाव ही ''अनभिष्वंग'' कहलाता है।

18वें अध्याय के 49 वें श्लोक में सिद्धि प्राप्ति का मार्ग दर्शाते हुए कहा- 'सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धिवाला वही पुरुष, जो स्पृहारहित तथा जितात्मा बन, संन्यास

धारण करके परम नैष्कम्र्य सिद्धि को प्राप्त करता है।' इससे आगे अपरिग्रह का महत्व प्रतिपादित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं -''ममत्व भाव रहित होकर एवं परिग्रह को त्यागने वाला ही ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बन जाता है।''[37]

रजो रागात्मक विद्धि, तृष्णा संग समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनाम्।।[38]

हे कुंतीपुत्र रजोगुण की उत्पत्ति असीम आकाक्षाओं तथा तृष्णाओ से होती। इससे मनुष्य भौतिक भोग के लिए लालायित होता है। इस तरह की आसक्ति आत्मा को कर्मों से बंधने में निमित्त बनती है। बाह्य वस्तुओं के आकर्षण में 5 इन्द्रियों का योगदान मुख्य है। इनसे ही मनुष्य विषयों का सेवन करता है[39] परन्तु दैविक संपदा प्राप्त पुरूषों में 'अलोलुपता' एक विशेष लक्षण होता है।[40] कामनाओं की तृप्ति के लिए जीवन धारण किया है। यह चिंतन अज्ञानी और अविवेकी पुरुष का रहता है।[41]

''संग त्यक्त्वा फलं चैव सं त्यागः सात्विको मतः।''[42]

Copyright©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

"आसक्ति और फल को त्यागकर किया जाने वाला त्याग सात्विक त्याग की श्रेणी में आता है।" इस तरह आसक्ति त्याग की परिभाषा गीता में अलग दृष्टिकोण से रखी गई है जिससे व्यक्ति सात्विकता की तरफ आकर्षित होता है।

वैदिक मान्यता में "दान" का अपना महत्व रहा है। उसी का अनुसरण गीता ने किया है। इसमें तीन प्रकार के दान का विवेचन है-(1) सात्विक दान, (2) राजसदान और (3) तमस दान। उपरोक्त में मात्र "सात्विक दान" ही उत्तम दान कहा गया है।[43] क्योंकि धन सम्पत्ति की तीन स्थितियां देखी गई है- दान, भोग और नाश।[44] "दान" की क्रिया से 'अपरिग्रह' भावों को विकसित होते देखा गया है तथा सामाजिक उन्नयन में भी दान की अहम भूमिका समाजशास्त्र या नीतिशास्त्र में प्राप्त होती है।

दान के संबंध में देवदत्त पटनायक लिखते हैं कि- "दान से न तो आभार बनता है और न ही अपेक्षा। यह मात्र मोक्ष का एक सूचक है। मोक्ष तब प्राप्त होता है जब हम यह अनुभव नहीं करते कि हमें अपनी सम्पत्ति से आसक्ति है तथा हम अपने आस-पास के लोगों पर अधिकार जमाना चाहते है क्योंकि हम अपनी पहचान को या तो अपनी सम्पत्ति अथवा अपनी शक्ति के द्वारा बनाये रखना चाहते हैं।" उन्होंने भी गीता-17-20 का उल्लेख करते हुये कहा- "ऐसा दान जो उपयुक्त व्यक्ति को उपयुक्त समय और उपयुक्त स्थान पर बिना इस अपेक्षा से दिया जाता है कि वह उसके बदले में कुछ देगा, वह सात्विक दान कहलाता है।" दान वही होता है जिसके बदले में हम किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करते हम दूसरों पर किसी प्रकार का आभार नहीं लादते। उसमें किसी प्रकार के ऋण या कर्मफल की चर्चा नहीं होनी चाहिए।[45]

निष्कर्ष

गीता में वर्णित अनासक्ति के संदेश की उपयोगिता साबित करते हुये लिखा गया है "गीता में 'अपरिग्रह' शब्द भले ही एक बार (6-10) और परिग्रह शब्द भी केवल एक बार (18-53) आया हो, किन्तु अपरिग्रह को सविस्तार सार्थक व सशक्त समर्थन मिलता हो ऐसी विषयवस्तु गीता में भरी पडी है। गीता के अनुसार यह स्वयं व्यक्ति के हाथ में है कि हम 'अपरिग्रही' बनकर आत्मजयी बने। "गीता में उल्लेखित अनासक्ति के संदेश ने ही उसे विश्व में अमर बना दिया है।"[46]

Copyright ©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लिखित उपरोक्त विचार अपरिग्रही चिंतन धारा को पुष्ट करने वाले ही नजर आते हैं।

संदर्भ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 6-10.
2. वही, 4-21.
3. वही, 4-23.
4. वही, 16-16.
5. वही, 14-7-17.
6. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, स्वामी प्रभुपाद, 14-12.
7. श्रीमद्भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 16-21.
8. वही, 2-62, 63.
9. वही, 2-52.
10. वही, 15-5.
11. निर्मला उपाध्याय (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 536.
12. वही, पृ. 536.
13. श्रीमद्भगवदगीता, स्वामी चिन्मयानंद, 16-13.
14. अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 536.
15. मेरी गीता, देवदत्त पटनायक, पृ. 230.
16. श्रीमद्भगवदगीता, स्वामी चिन्मयानंद, 2-47.
17. वही, 3-19.
18. वही, 3-20.
19. वही, 3-19.
20. वही, 3-19.
21. वही, 3-19.
22. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, स्वामी प्रभुपाद, 18-11.
23. श्रीमद्भगवद् गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 2-49.
24. आमंत्रण आरोग्य को आचार्य महाप्रज्ञ पृ. 95.
25. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, 4-20.

Copyright©authors

ISSN 0975-119X
Vol-11-Issue-6
November-December-2019

26.श्रीमद्भगवदगीता, स्वामी चिन्मयानंद, 18-23.
27.वही, 4-14.
28.वही, 5-10.
29.वही, पृ. 822.
30.वही, 5-21, 22.
31.वही, 4-23.
32.वही, 6-18.
33.वही, 6-24.
34.वही, 11-55.
35.वही, 13-10.
36.वही, 18, 53.
37.श्रीमद्भगवदगीता यथारूप- स्वामी प्रभुपाद, 14-7.
38.श्रीमद्भगवदगीता-स्वामी चिन्मयानंद, 15-9.
39.वही, 16-2.
40.वही, 16-10.
41.वही, 18-6.
42.श्रीमद्भगवदगीता यथारूप- स्वामी प्रभुपाद, 17-20, 21, 22.
43.धन मुनि, वक्तृत्वकला के बीज भाग-6, पृ. 160.
44.श्रीमद्भगवदगीता यथारूप, 17-20.
45.मेरी गीता-देवदत्त पटनायक, पृ. 235,237.
46.गोपाल भारद्वाज (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 59.

Copyright©authors